

प्रत्यभिज्ञा

प्रत्यभिज्ञाके विषयमें दो बातें ऐसी हैं जिनमें दार्शनिकोंका मतभेद रहा है—पहली प्रामाण्यकी और दूसरी स्वरूपकी। बौद्ध परम्परा प्रत्यभिज्ञाको प्रमाण नहीं मानती क्योंकि वह क्षणिकवादी होनेसे प्रत्यभिज्ञाका विषय माने जानेवाले स्थिरत्वको ही वास्तविक नहीं मानती। वह स्थिरत्वप्रतीतिको सादृश्यमूलक मानकर भ्रान्त ही समझती है^१। पर बौद्धभिन्न जैन, वैदिक दोनों परम्पराके सभी दार्शनिक प्रत्यभिज्ञाको प्रमाण मानते हैं। वे प्रत्यभिज्ञाके प्रामाण्यके आधार पर ही बौद्धसम्मत क्षणभङ्गका निरास और नित्यत्व—स्थिरत्व—का समर्थन करते हैं। जैन परम्परा न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंकी तरह एकान्त नित्यत्व किंवा कूटस्थ नित्यत्व नहीं मानती तथापि वह विभिन्न पूर्वापर अवस्थाओंमें भ्रुवत्वको वास्तविक रूपसे मानती है अतएव वह भी प्रत्यभिज्ञाके प्रामाण्यको पक्षपातिनी है।

प्रत्यभिज्ञाके स्वरूपके संबन्धमें मुख्यतया तीन पक्ष हैं—बौद्ध, वैदिक और जैन। बौद्धपक्ष कहता है कि प्रत्यभिज्ञा नामक कोई एक ज्ञान नहीं है किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष ये समुचित दो ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा शब्दसे व्यवहृत होते हैं^२। उसका 'सत्' अंश अतीत होने से परोक्षरूप होनेके कारण स्मरणग्राह्य है वह प्रत्यक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता, जबकि 'इदम्' अंश वर्तमान होनेके कारण प्रत्यक्षग्राह्य है वह अप्रत्यक्षग्राह्य हो ही नहीं सकता। इस तरह विषयगत परोक्षा-परोक्षत्वके आधार पर दो ज्ञानके समुच्चयको प्रत्यभिज्ञा कहनेवाले बौद्धपक्षके विरुद्ध न्याय, मीमांसक आदि वैदिक दर्शन कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा यह प्रत्यक्ष रूप एक ज्ञान है प्रत्यक्ष-स्मरण दो नहीं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें वर्तमान मात्र विषयकत्वका जो नियम है वह सामान्य नियम है अतएव सामग्रीविशेषदर्शामें वह नियम सापवाद बन जाता है। वाचस्पति मिश्र प्रत्यभिज्ञामें प्रत्यक्षत्वका उपपादन करते हुए कहते हैं कि संस्कार या स्मरणरूपसहकारीके बलसे वर्तमान-

१ प्रमाणवा० ३. ५०१-२। तत्त्वसं० का० ४४७।

२ '...तस्माद् द्वे एतौ ज्ञाने स इति स्मरणम् अयम् इत्यनुभवः'—न्यायम० पृ० ४४६।

मात्रप्राही भी इन्द्रिय, अतीतावस्थाविशिष्ट वर्तमानको ग्रहण कर सकनेके कारण प्रत्यभिज्ञाजनक हो सकती है^१। जयन्त वाचस्पतिके उक्त कथनका अनुसरण करनेके अलावा भी एक नई युक्ति प्रदर्शित करते हैं। वे कहते हैं कि स्मरण-सहकृतइन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके बाद एक मानसज्ञान होता है जो प्रत्यभिज्ञा कहलाता^२ है। जयन्तका यह कथन पिछले नैयायिकोंके अलौकिकप्रत्यक्षवादकी कल्पनाका बीज मालूम होता है।

जैन तार्किक प्रत्यभिज्ञाको न तो बौद्धके समान ज्ञानसमुच्चय मानते हैं और न नैयायिकादिकी तरह बहिरिन्द्रियज प्रत्यक्ष। वे प्रत्यभिज्ञाको परोक्ष ज्ञान मानते हैं। और कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्मरणके बाद एक संकलनात्मक विजातीय मानस ज्ञान पैदा होता है वही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। अकलङ्कोपज्ञ (लक्ष्मी० ३. १. से) प्रत्यभिज्ञाकी यह व्यवस्था जो स्वरूपमें जयन्तकी मानसज्ञान की कल्पनाके समाप्त है वह सभी जैन तार्किकोंके द्वारा निर्भिवादरूपसे मान ली गई है। आचार्य हेमचन्द्र भी उसी व्यवस्थाके अनुसार प्रत्यभिज्ञाका स्वरूप मानकर परपक्षनिराकरण और स्वपक्षसमर्थन करते हैं—प्र० मी० पृ० ३४.।

मीमांसक (श्लोकवा० सू० ४. श्लो० २३२-२३७.), नैयायिक (न्यायसू० १. १. ६.) आदि उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं जो सादृश्य-वैसदृश्य विषयक है। उनके मतानुसार ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि विषयक अनेक सप्रतियोगिक ज्ञान ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष ही हैं। जैन तार्किकोंने प्रथमसे ही उन सबका समावेश, प्रत्यभिज्ञानको मतिज्ञानके प्रकारविशेषरूपसे स्वतन्त्र प्रमाण मानकर, उसीमें किया है, जो ऐकमत्यसे सर्वमान्य हो गया है

ई० १६३६]

[प्रमाण मीमांसा

१ तात्पर्य० पृ० १३६।

२ 'एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा।'—न्यायम० पृ० ४६१।